# तत्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएं

पं. फूलचंद्रजी सिद्धान्त शास्त्री, बनारस

इस अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के मोक्षलाभ करने के बाद अनुबद्ध केवली तीन और श्रुतकेवली पांच हुए हैं। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके कालतक अंग-अनंग श्रुत अपने मूल रूप में आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्ति के क्षीण होते जाने से तथा मूल श्रुत के प्रायः पुस्तकारूढ किए जाने की परिपाटी न होने से क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ मूल श्रुत का अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुत परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि से बनाये रखने के लिए जो अनेक प्रयत्न हुए हैं उनमें से अन्यतम प्रयत्न तत्वार्थसूत्र की रचना है। यह एक ऐसी प्रथम उच्च कोटि की रचना है जब जैन परम्परा में जैन साहित्य की मूल भाषा प्राकृत का स्थान धीरे धीरे संस्कृत भाषा लेने लगी थी, इसके संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध होने का यही कारण है।

## १. नाम

इसमें सम्यद्दर्शन के विषयरूप से जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन मुख्य रूप से किया गया है, इसलिए इसकी मूल संज्ञा 'तत्त्वार्थ' है। पूर्व काल में इसपर जितने भी वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं उन सबमें प्रायः इसी नाम को स्वीकार किया गया है[1]। इसकी रचना सूत्र शैली में हुई है, इसलिए अनेक आचार्यों ने 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नाम से भी इसका उल्लेख किया है[2]।

श्वेताम्बर परम्परा में इसके मूल सूत्रों में कुछ परिवर्तन करके इसपर वाचक उमास्वाति ने लगभग सातवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में या ८ वीं शताब्दि के पूर्वार्ध में[3] तत्त्वार्थाधिगम नाम के एक लघु ग्रन्थ की रचना की[4], जो उत्तर काल में तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्वेताम्बर परम्परा में इसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र इस नाम से प्रसिद्धि मिलने का यही कारण है। किन्तु वह परम्परा भी इसके 'तत्त्वार्थ'

१. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक आदि के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिका आदि।
२. जीवस्थान कालानुयोग द्वार, पृ. ३१६
३. प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ७२ से।
४. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, उत्थानिका, श्लोक २।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और 'तत्त्वार्थसूत्र' इन पुराने नामों का सर्वशः विस्मृत न कर सकी[1]। उत्तर काल में तो प्रायः अनेक श्वेताम्बर टीका-टिपणीकाएं द्वारा एकमात्र 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नाम को ही एक स्वर से स्वीकार कर लिया गया है[2]।

श्रद्धालु जनता में इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी प्रचलित है। इस नाम का उल्लेख इसके प्राचीन टीकाकारों ने तो नहीं किया है। किन्तु इसका प्रारम्भ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा से होकर इसका अन्त मोक्ष की प्ररूपणा के साथ होता है। जान पडता है कि एकमात्र इसी कारण से यह नाम प्रसिद्धि में आया है।

## २. ग्रन्थ का परिमाण

वर्तमान में तत्त्वार्थसूत्र के दो पाठ (दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मान्य) उपलब्ध होने से इसके परिमाण के विषय में उहापोह होता रहता है। किन्तु जैसा कि आगे चलकर बतलानेवाले हैं, सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ही मूल तत्त्वार्थसूत्र है। तदनुसार इसके दसों अध्यायों के सूत्रों की संख्या ३५७ है। यथा–अ. १ में सूत्र ३३, अ. २ में सूत्र ५३, अ. ३ में सूत्र ३९, अ. ४ में सूत्र ४२, अ. ५ में सूत्र ४२, अ. ६ में सूत्र २७, अ. ७ में सूत्र ३९, अ. ८ में सूत्र २८, अ. ९ में सूत्र ४७ और अ. १० में सूत्र ९, कुल ३५७ सूत्र।

श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की रचना होने पर मूलसूत्र पाठ में संशोधन कर दसों अध्यायों में जो सूत्र संख्या निश्चित हुई उसका विवरण इस प्रकार है–अ. १ में सूत्र ३५, अ. २ में सूत्र ५२, अ. ३ में सूत्र १८, अ. ४ में सूत्र ५३, अ. ५ में सूत्र ४४, अ. ६ में सूत्र २६, अ. ७ में सूत्र ३४, अ. ८ में सूत्र २६, अ. ९ में सूत्र ४९, अ. १० में सूत्र ७, कुल ३४४ सूत्र[3]।

## ३. मंगलाचरण

तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन अनेक सूत्र पोथियों में तथा सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में इसके प्रारम्भ में यह प्रसिद्ध मंगल श्लोक उपलब्ध होता है––

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।**
**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥**

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम वृत्ति सर्वार्थसिद्धि है, उसमें तथा उत्तर कालीन अन्य भाष्य और टीका ग्रन्थों में उक्त मंगल श्लोक की व्याख्या उपलब्ध न होने से कतिपय विद्वानों का मत है कि उक्त मंगल श्लोक मूल ग्रन्थ का अंग नहीं है। सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में हमने भी इसी मत का अनुसरण किया है। किन्तु दो कारणों से हमें स्वयं वह मत सदोष प्रतीत है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है––

---

१. सिद्धसेनगणि टीका, अध्याय १ और ६ की अन्तिम पुष्पिका।
२. प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी द्वारा अनुदित तत्त्वार्थ सूत्र।
३. विशेष के लिए देखो, सर्वार्थसिद्धि प्र., पृ. १७ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ आचार्य विद्यानंद उक्त मंगल श्लोक को सूत्रकार का स्वीकार करते हुए आप्तपरीक्षा के प्रारम्भ में लिखते हैं—

**'किं पुनस्तत्परमेष्टिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते।'**

आप्तपरीक्षा का उपसंहार करते हुए वे पुनः उसी तथ्य को दुहराते हैं—

**श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,**
**प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।**
**स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।**
**विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥ १२३॥**

प्रकृष्ट सम्यग्दर्शनादिरूपी श्लोकों की उत्पत्ति के स्थान भूत श्रीमत्तत्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्र की रचना के आरम्भ काल में महान मोक्ष पथ को प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्र को शास्त्रकारों ने समस्त कर्ममल का भेदन करने के अभिप्राय से रचा है और जिसकी स्वामी (समन्तभद्र आचार्य) ने मीमांसा की है उस स्तोत्र के सत्य वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए विद्यानन्द ने अपनी शक्ति के अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है॥ १२३॥

इसी तथ्य को उन्होंने पुनः इन शब्दों में स्वीकार किया है—

**इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।**
**प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवादविनिवृत्तये॥ १२४॥**

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्र के प्रारम्भ में मुनीन्द्र के स्तोत्र को विषय करनेवाली यह आप्तपरीक्षा विवाद को दूर करने के लिए रची गई है॥ १२४॥

आप्त परीक्षा के ये उल्लेख असंदिग्ध हैं। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के समय तक उक्त मंगल श्लोक सूत्रकार की कृति के रूप में ही स्वीकार किया जाता था।

२. एक और आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक नामक विस्तृत भाष्य लिखकर भी उसके प्रारम्भ में इस मंगल श्लोक की व्याख्या नहीं की और दूसरी ओर वे आप्तपरीक्षा में उसे सूत्रकार का स्वीकार करते हैं। इससे इस तर्क का स्वयं निरसन हो जाता है कि तत्त्वार्थ सूत्र के वृत्ति, भाष्य और टीकाकारों ने उक्त मंगल श्लोक की व्याख्या नहीं की, इसलिए वह सूत्रकार का नही है।

स्थिति यह है कि स्वामी समन्तभद्र द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या के रूप में आप्त मीमांसा लिखे जाने पर उत्तरकालीन पूज्यपाद आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र पर वृत्ति लिखते हुए उसके प्रारम्भ में उक्त मंगल श्लोक की पुनः व्याख्या लिखने का उपक्रम नहीं किया। भट्ट अकलंक देव ने आप्तमीमांसा पर अष्टशती लिखी ही है, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र पर अपना तत्त्वार्थ भाष्य लिखते समय उन्होंने भी उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या नहीं लिखी। यद्यपि आचार्य विद्यानन्द ने उक्त मंगल श्लोक की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या के रूप में स्वतन्त्र रूप से आप्त परीक्षा लिखी है। परन्तु उसका कारण अन्य है। बात यह है कि आप्तमीमांसा पर भट्ट अकलंकदेव द्वारा निर्मित अष्टशती के समान स्वयं द्वारा निर्मित अष्टसहस्री को अति कष्टसाध्य जानकर ही उन्होंने उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या की रूप में आप्तपरीक्षा की रचना की। स्पष्ट है कि उक्त मंगल श्लोक को सूत्रकार की ही अनुपम कृति के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

## ४. सूत्रकार और रचनाकालनिर्देश

आचारशास्त्र का नियम है कि अर्हत धर्म का अनुयायी साधु अन्तः और बाहर परम दिगम्बर और सब प्रकार की लौकिकताओं से अतीत होता है। यही कारण है प्राचीन काल में सभी शास्त्रकार शास्त्र के प्रारम्भ में या अन्त में अपने नाम, कुल, जाति और वास्तव्य स्थान आदि का उल्लेख नहीं करते थे। वे परमार्थ से स्वयं को उस शास्त्र का रचयिता नहीं मानते थे। उनका मुख्य प्रयोजन परम्परा से प्राप्त वीतरागता की प्रतिपादक द्वादशांग वाणी को संक्षिप्त, विस्तृत या भाषान्तर कर संकलन कर देना मात्र होता था। उसमें भी उस काल में उस विषय का जो अधिकारी विद्वान होता था उसे ही संघ आदि के ओर से यह कार्य सोंपा जाता था। अन्यथा प्ररूपणा न हो जाय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि किसी शास्त्र के साथ अपना नाम आदि देने से उसकी सर्व ग्राह्यता और प्रामाणिकता नहीं बढती। अधिकतर शास्त्रों में स्थल-स्थल पर 'जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है[1]', 'यह जिन देव का उपदेश है'[2], 'सर्वज्ञ देव ने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते है'[3], इत्यादि वचनों के उल्लेखों के साथ ही प्रतिपाद्य विषयों के लिपिबद्ध करने की परिपाटी थी। प्राचीन काल में यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्यों का उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था। तत्त्वार्थसूत्र की रचना उसी परिपाटी का एक अंग है, इसलिए उसमें उसका संकलयिता कौन है इसका उल्लेख न होना स्वाभाविक है। अतः अन्य प्रमाणों के प्रकाश में ही हमें इस तथ्य का निर्णय करना होगा कि आगमिक दृष्टि से सर्वांगसुन्दर इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का संकलयिता कौन है?

इस दृष्टि से सर्व प्रथम हमारा ध्यान आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्द की ओर जाता है। आचार्य वीरसेन जीवस्थान कालानुयोग द्वारा पृ. ३१६ में लिखते हैं--

'तह गिद्धपिंच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि' वर्तना-परिणामक्रियापरत्वापरत्वेच कालस्य' इदि दव्वकालो परूविदो'।

इस उल्लेख में तत्त्वार्थ सूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा प्रकाशित कहा गया है।

आचार्य विद्यानन्द ने भी अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इन शब्दों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र को आचार्य गृद्धपिच्छ की रचना के रूप में स्वीकार किया है—'गणाधिप-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतिकेवल्यभिन्न दशपूर्वधर सूत्रेण स्वयंसम्मतेन व्यभिचार इति चेत्? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतराग प्रणेतकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थ गणधरदेवैर्ग्रतिथ-मिति वचनात् एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

---

१. समयसार, गाथा ७०। २. समयसार, गाथा १५०। ३. बोधपाहुड, गाथा ६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये दोनों समर्थ आचार्य विक्रम ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। इससे विदित हाता है कि इनके कालतक आचार्य कुन्द कुन्द के पट्टधर एकमात्र आचार्य गृद्धपिच्छ ही तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता स्वीकार किए जाते थे। उत्तर काल में भी इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें कहीं कोई मतभेद नहीं दिखलाई देता, जिसकी पुष्टि वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित से भी होती है। वहां वे शास्त्रकार के रूप में आचार्य गृद्धपिच्छ के प्रति बहुमान प्रकट करते हुए लिखते हैं--

**'अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मितम्।**
**पक्षी कुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः॥'**

वादिराजसूरि शास्त्रकारों का नामस्मरण कर रहे हैं। उसी प्रसंग में यह श्लोक आया है। इससे विदित होता है कि वे भी तत्त्वार्थसूत्र के रचियता के रूप में आचार्य गृद्धपिच्छ को स्वीकार करते रहे।

यद्यपि श्रवणबेल्गोला के चन्द्रगिरी पर्वत पर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें आचार्य गृद्धपिच्छ और उमास्वाति को अभिन्न व्यक्ति मानकर[1] शिलालेख १०५ में उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता स्वीकार किया गया है। किन्तु इनमें से शिलालेख ४३ अवश्य ही विक्रम की १२ वी शताब्दि के अन्तिम चरण का है। शेष सब शिलालेख १३ वीं शताब्दि और उसके बाद के हैं। जिस शिलालेख में उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा गया है वह तो १५ वीं शताब्दि का है। किन्तु मालूम पडता है कि ८ वीं ९ वीं शताब्दि या उसके बाद श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के रचियता के रूप में उमास्वाति की प्रसिद्धि होने पर कालान्तर में दिगम्बर परम्परा में उक्त प्रकार के भ्रम की सृष्टि हुई है। अतः उक्त शिलालेखों से भी यही सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र अन्य किसी की रचना न होकर मूल में एकमात्र गृद्धपिच्छाचार्य की ही अमर कृति है। शिलालेख १०५ में जिन उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा गया है वे अन्य कोई न होकर आचार्य कुन्द कुन्द के पट्टधर आचार्य गृद्धपिच्छ ही हैं। श्वेताम्बर परम्परा के वाचक उमास्वाति इनसे सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। आचार्य गृद्धपिच्छ और वाचक उमास्वाति के वास्तव्य काल में भी बड़ा अन्तर है। आचार्य गृद्धपिच्छ का वास्तव्य काल जब कि पहली शताब्दि का उत्तरार्ध और दूसरी शताब्दि का पूर्वार्ध निश्चित हुआ है[2]। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा में जो तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमान्य सूत्रपाठ पाया जाता है वह मूल सूत्रपाठ न होकर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रों को ही मूल सूत्रपाठ समझना चाहिए[3]। जो कि आचार्य कुन्द कुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दि के मध्य में हुए अन्वय में हुए उन्हींके अन्यतम शिष्य आचार्य गृद्धपिच्छ की अनुपम रचना है।

---

१. शिलालेख ४०, ४२, ४३, ४७ व ५०।

२. धर्मघोष सूरीकृत दुःषमकाल श्रमण संघस्तव, धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावलि और जिन-विजय सूरीकृत लोक प्रकाश ग्रन्थ।

३. इस विषय के विशेष उहापोह के लिए सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना पर दृष्टिपात कीजिए।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ५. विषय परिचय

मूल तत्त्वार्थसूत्र में १० अध्याय और ३५७ सूत्र हैं यह पहले बतला आये हैं। उसका प्रथम सूत्र है–'**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' इसका समुच्चय अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप से परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का ही दूसरा नाम आत्मधर्म है। इसका आशय यह है कि रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष का अधिकारी होता है, अन्य नहीं। वहां इन तीनों में सम्यग्दर्शन मुख्य है, इसीलिए भगवान् कुन्दकुन्द ने दर्शन प्राभृत में इसे धर्म का मूल कहा है। अतः सर्वप्रथम इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए वहां बतलाया है–'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। पुण्य और पाप आस्रव और बन्ध के विशेष होने से यहां उनकी पृथक् से परिगणना नहीं की गई है। इनका यथावस्थित स्वरूप जानकर आत्मानुभूति स्वरूप आत्म रुचिका होना सम्यग्दर्शन है यह उक्त सूत्र का तात्पर्य है।

परमागम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के जिन बाह्य साधनों का निर्देश किया गया है उनमें देशनालब्धि मुख्य है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशनारूप से परिणत आचार्यादि का लाभ होना और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचार करनेरूप शक्ति का समागम होना देशनालब्धि है[1]।

प्रथमादि तीन नरकों में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के जिन तीन बाह्य कारणों का निर्देश किया गया है उनमें एक धर्मश्रवण भी है। इस पर किसी शिष्य का प्रश्न है कि प्रथमादि तीन नरकों में ऋषियों का गमन न होने से धर्मश्रवणरूप बाह्य साधन कैसे बन सकता है? इस का समाधान करते हुए बतलाया है की वहाँ पूर्व भव के सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि देवों के निमित्त से धर्मोपदेश का लाभ हो जाता है[2]। इस उल्लेख में 'सम्यग्दृष्टि' पद ध्यान देने योग्य है। इस से विदित होता है कि मोक्षमार्ग के प्रथम सोपानस्वरूप सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञानी का उपदेश ही प्रयोजनीय होता है। इतना अवश्य है कि जिन्हें पूर्व भव में या कालान्तर में धर्मोपदेश की उपलब्धि हुई है उन के जीवन में उस का संस्कार बना रहने से वर्तमान में साक्षात धर्मोपदेश का लाभ न मिलने पर भी आत्म जागृति होने से सम्यग्दर्शन को प्राप्ति हो जाती है। इन्हीं दोनों तथ्यों को ध्यान में रख कर तत्त्वार्थ सूत्र में—'**तन्निसर्गादधिगमाद्वा**' इस तीसरे सूत्र की रचना हुई है।

वे तत्त्वार्थ कौन कौन है जिनके श्रद्धान से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है इस बात का ज्ञान कराने के लिये '**जीवाजीवास्रव**'—इत्यादि सूत्र की रचना हुई है। मोक्षमार्ग में निराकुलता लक्षण सुख की प्राप्ति जीव का मुख्य प्रयोजन है, इस लिये सात तत्त्वार्थों में प्रथम स्थान चैतन्य लक्षण जीव का है। अजीव (स्व से भिन्न अन्य) के प्रति अपनत्व होने से जीव की संसार परिपाटी चली आ रही है, इसलिये

---

१. जीवस्थान चूलिका पृ. २०४।४, जीवस्थान चूलिका, नौवीं चूलिका सूत्र ७ व ८।

२. जीवनस्थान चूलिका, पृ. ४२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सात तत्त्वार्थों में दूसरा स्थान अजीव का है। ये दो मूलतत्त्वार्थ हैं। इनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शेष पाँच तत्त्वार्थ है[1]। जिन में संसार और उनके कारणों तथा मोक्ष और उनके कारणों का निर्देश किया गया है।

एक-एक शब्द में अनेक अर्थों को द्योतित करने की शक्ति होती है। उसमें विशेषण की सामर्थ्य से प्रतिनियत अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति को न्यस्त करना प्रयोजन है। पहले सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थों का उल्लेख कर आये हैं। उनमें से प्रकृत में किस पद का कौन अर्थ इष्ट है इस तथ्य का विवेक करने के लिये 'नाम-स्थापना' इत्यादि पाँचवे सूत्र की रचना हुई है। किन्तु इस निर्णय में सम्यग्ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर निक्षेप योजना के प्ररूपक सूत्र के बाद 'प्रमाण-नयैरधिगमः' रचा गया है।

प्रमाण-नयस्वरूप सम्यग्ज्ञान द्वारा सुनिर्णीत निक्षिप्त किस पदार्थ की व्याख्या कितने अधिकारों में करने से वह सर्वांगपूर्ण कही जायगी इस तथ्य को स्पष्ट करने लिये 'निर्देश-स्वामित्व' इत्यादि और 'सत्संख्या' इत्यादि दो सूत्रों की रचना हुई है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में ये आठ सूत्र मुख्य है। अन्य सब सूत्रों द्वारा शेष सब कथन इन सूत्रों में प्रतिपादित अर्थ का विस्तार मात्र है। उसमें प्रथम अध्याय में अन्य जितने सूत्र है उनद्वारा सम्यग्ज्ञान तत्त्व की विस्तार से मीमांसा की गई है। उसमे जो ज्ञान विधि निषध उभयस्वरूप वस्तु को युगवत् विषय करता है उसे प्रमाण कहते है और जो ज्ञान गौण मनुष्यस्वभाव से अवयव को विषय करता है उसे नय कहते हैं। नयज्ञान में इतनी विशेषता है कि वह एक अंश द्वारा वस्तु को विषय करता है, अन्य का निषेध नहीं करता। इसीलिये उसे सम्यग्ज्ञान की कोटि में परिगृहीत किया गया है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में प्रमुखता से जीवपदार्थ का विवेचन किया गया है। प्रसंग से इन तीनों अध्यायों में पांच भाव, जीव का लक्षण, मन का विषय, पाँच इन्द्रियां, उनके उत्तरभेद और विषय, पाँच शरीर, तीन वेद, नौयोनि, नरकलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक, चारों गतियों के जीवों की आयु आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय के अन्तमें एक सूत्र है जिसमें जिन जीवो की अनपवर्त्य आयु होती है उनका निर्देश किया गया है।

विषभक्षण, शस्त्रप्रहार, श्वासोच्छ्वास, निरोध आदि बाह्य निमित्तों के सन्निधान में भुज्यमान आयु में ह्रास होने को अपवर्त कहते हैं। किन्तु इस प्रकार जिनकी आयु का ह्रास नहीं होता उन्हें अनपवर्त्य आयुवाला कहा गया है। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में ऐसे दस उपसर्ग केवली और दस अन्तःकृत केवली होते हैं जिन्हें बाह्य में भयंकर उपसर्गादि के संयोग बनते है, परन्तु उनके आयु का ह्रास नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि अन्तरंग जिस आयु में अपने काल में ह्रास होने की पात्रता होती है, बाह्य में उस काल में काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहार से ह्रास के अनुकूल अन्य विषभक्षण आदि बाह्य सामग्री का सन्निधान होने पर उस आयु का ह्रास होता है। अन्तरंग मे आयु में ह्रास होने की पात्रता न हो और उसके ह्रास के अनुकूल बाह्य सामग्री मिलने पर उसका ह्रास हो जाय ऐसा नहीं है।

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १०८, समय व्याख्या टीका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथे अध्याय में देवों के अवान्तर भेदों के निरूप के साथ उनके निर्देश किया गया है। उससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि भोगोपभोगकी बहुतता और परिग्रहकी बहुतता, साता आदि पुण्यातिशय का फल न होकर सात परिणाम की बहुतता उसका फल है, इसलिये कर्मशास्त्र में बाह्य सामग्री को सुख–दुःख आदि परिणामों के निमित्तरूप में स्वीकार किया गया है। देवों की लेश्या और आयु आदि का विवेचन भी इसी अध्याय में किया गया है।

पांचवे अध्याय में छह द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों का सांगोपांग विवेचन करते हुए उनक परस्पर उपकार का और गुणपर्याय के साथ द्रव्य के सामान्य लक्षण का भी निर्देश किया गया है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ बाह्य साधन से है। प्रत्येक द्रव्य जब अपने परिणाम स्वभाव के कारण विवक्षित एक पर्याय से अपने तत्कालीन उपादान के अनुसार अन्य पर्याय रूप से परिणमता है तब उस में अन्य द्रव्य की निमित्तता कहाँ किस रूप में स्वीकार की गई है यह इस अध्याय के उपकार प्रकरण द्वारा सूचित किया गया है। यहाँ द्रव्यके सामान्य लक्षण में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंको द्रव्य के अंशरूप में स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह कि जैसे ध्रौव्यांश अन्वयरूप से स्वयं सत् है उसी प्रकार अपने-अपने काल में प्रत्येक उत्पाद और व्यय के विषय में भी जानना चाहिए। इन तीनों में लक्षण भेद होने पर भी वस्तुपने से भेद नहीं है। इसलिये अन्य के कार्य की पर में व्यवहार से निमित्तता स्वीकार करके भी उसमें अन्य के कार्य की यथार्थ कर्तृता आदि नहीं स्वीकार की गई है और न की जा सकती है।

छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व के विवेचन के प्रसंग से पुण्य और पाप तत्त्व का भी विवेचन किया गया है। संसारी जीवों के पराश्रित भाव दो प्रकार के हैं शुभ और अशुभ। देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति तथा व्रतों का पालन करना आदि शुभ भाव हैं और पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति तथा हिंसादि रूप कार्य अशुभ भाव हैं। इन परिणामों के निमित्त से योग प्रवृत्ति भी दो भागों में विभक्त हो जाती है, शुभ योग और अशुभ योग। योग को स्वयं आस्रव कहने का यही कारण है। इससे यह स्पष्ट हो जाती है कि जिस समय जीव के शुभ या अशुभ जैसे भाव होते हैं, योग द्वारा तदनुरूप कर्मों का ही आस्रव होता है। छठे अध्याय में आस्रव के भेद–प्रभेदों का निरूपण करने के बाद जीव के किन भावों से मुख्य रूप से किस कर्म का आस्रव होता है इस का निर्देश किया गया है। आयुकर्म के आस्रव के हेतु के निर्देश के प्रसंग से सम्यक्त्वने संयमासंयम और सराग संयम को आस्रव का हेतु बतलाया गया है। सो इस पर से यह अर्थ फलित नहीं करना चाहिए कि इससे देवायु का आस्रव होता है। किन्तु इस कथन का इतना ही प्रयोजन समझना चाहिए कि यदि उक्त विशेषताओं से युक्त यथा सम्भव मनुष्य और तिर्यञ्च आयुबन्ध करते हैं तो सौधर्मादि सम्बन्धी आयु का ही बन्ध करते हैं। सम्यग्दर्शन आदि कुछ आयुबन्ध के हेतु नहीं हैं। उनके साथ जो प्रशस्त राग है वही बन्ध का हेतु है। सातवें अध्याय में शुभ भावों का विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया गया है उनमें व्रतों की परिगणना करते हुए हिंसादि पांच पाप भावों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। आशय यह है कि प्रमाद बहुत या इच्छापूर्वक असद्विचार से जो भी क्रिया की जाती है उसका तो यथा योग्य हिंसादि पाँच पापों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्भाव होता ही है। साथ ही बाह्य क्रिया के न करने पर भी जो अन्तरंग में मलिन परिणाम होता है उसे भी अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार हिंसादि पाँच पाप रूप स्वीकार किया गया है। इस कथन से ऐसा आशय भी फलित होता है कि अन्तरंग में मलिन परिणाम न हो, किन्तु बाह्य में कदाचित् विपरीत क्रिया हो जाय तो मात्र वह क्रिया हिंसादि रूप से परिगणित नहीं की जाती।

आठवें अध्याय में प्रकृति बन्ध आदि चारों प्रकार के कर्मबन्ध और उनके हेतुओं का निर्देश किया गया है। बन्ध के हेतु पाँच हैं, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें कषाय और योग ये दो मुख्य हैं, क्यों कि योग को निमित्त कर प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय को निमित्तकर स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। फिर भी यहाँ पर मिथ्यादर्शन, अविरति और प्रमाद को जो बन्ध का हेतु कहा है उसका कारण यह है कि मिथ्यादर्शन के सद्भाव में जो बन्ध होता है वह सर्वाधिक स्थिति को लिये हुए होता है। अविरति के सद्भाव में जो बन्ध होता है वह मिथ्यादर्शन के काल में होने वाले बन्ध से यद्यपि अल्प स्थितिवाला होता है, पर वह व्रती जीव के प्रमाद के सद्भाव में होने वाले बन्ध से अधिक स्थिति को लिये हुए होता है। कारण यह है पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों से आगे-आगे के गुणस्थानों में संक्लेश परिणामों की हानि होती जाती है और विशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध की स्थिति इस से भिन्न प्रकार की है, क्यों कि उत्तरोत्तर अशुभ भावों में हानि होने के साथ जीवों के परिणामों में विशुद्धि बढती जाती है, तदनुसार शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। प्रयोजन की बात इतनी है कि यहाँ सर्वत्र स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का मुख्य कारण कषाय है।

जीव रूप-रस-गन्ध और स्पर्श से रहित है, किन्तु पुद्गल रूप-रस-गन्ध और स्पर्शवाला है। इस लिए पुद्गल पुद्गल में जो स्पर्श निमित्तक संक्लेष बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल में नहीं बन सकता, क्योंकि जीव में स्पर्श गुण का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि जीव और द्रव्य कर्म का अन्यान्य प्रदेशानुप्रदेशरूप बन्ध बतलाया गया है। जीव का कर्मो के साथ संक्लेष बन्ध नहीं होता क्योंकि संक्लेष बन्ध पुद्गलों पुद्गलों में होता है इत्यादि अनेक विशेषताओं की इस अधिकार द्वारा सूचना मिलती है।

नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का तथा उनके कारणों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। शुभाशुभ भाव का नाम आस्रव है, अतः उन भावों का निरोध होना संवर है। यों तो गुणस्थान परिपाटी के अनुसार विचार करने पर विदित होता है कि मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध को प्राप्त होनेवाले कर्मों का सासादन गुणस्थान में द्रव्य संवर है, किन्तु संवर में भाव संवर की मुख्यता होने से उसका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से हो समझना चाहिए, क्योंकि एक तो सम्यग्दृष्टि के अनुभूति के काल में शुभाशुभ भावों का वेदन न होकर रत्नत्रय परिणत सायक स्वभाव आत्मा का अनुभव होता है, दूसरे शुभाशुभ भावों में हेय बुद्धि हो जाती है, और तीसरे उसके दर्शन मोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय परिणाम का सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि इसके वेदकसम्यक्त्व के काल में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय बना रहता है, पर उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शनस्वरूप स्वभाव पर्याय का अभाव नहीं होता। फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी यहाँ पर नौवें अध्याय में संवर को जो गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र स्वरूप कहा है सो वह संवर विशेष को ध्यान में रखकर ही कहा है। यहाँ संवर के प्रकारों में गुप्ति मुख्य है। इससे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि समिति आदि में जितना निवृत्यंश है व संवर स्वरूप है, आत्मातिरिक्त अन्य के व्यापारस्वरूप प्रवृत्यंश नहीं। यद्यपि तप का धर्म में ही अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु वह जैसे संवर का हेतु है वैसे ही निर्जरा का भी हेतु है यह दिखलाने के लिये उसका पृथक से निर्देश किया है।

आचार्य गृद्धपिच्छने कहाँ कितने परीषह होते है इस विषय का निर्देश करते हुए उनका कारण परीषह और कार्य परीषह ये दो विभाग स्वीकार कर विचार किया है। इस अध्याय में परीषह सम्बंधी प्ररूपणा ८ वे रूत्र से प्रारम्भ होकर वह १७ वे सूत्र पर समाप्त होती है। ८ सूत्र में परीषह का लक्षण कहा गया है। ९ वें सूत्र में परीषहों का नाम निर्देश करते हुए ६ वी परीषह के लिये स्पष्टतः नाग्न्य शब्दका ही उल्लेख किया गया है। इससे सूत्रकार एक मात्र दिगम्बर सम्प्रदाय के पट्टधर आचार्य थे इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। इसके बाद १०, ११ और १२, संख्याक सूत्रों में कारणों की अपेक्षा किसके किसने परीषह सम्भव हैं इस बातका निर्देश किया गया है। १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रों में उनके कारणों का निर्देश किया गया है। इस प्रकार १०, ११ और १२ संख्याक सूत्रों में कारण की अपेक्षा कारण परीषह होकर तथा १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रों में उनके कारणों का निर्देश कर आगे मात्र १७ वें सूत्र में कार्य परीषहों का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि एकजीव के कमसे कम एक और अधिक से अधिक १९ परीषह होते हैं। उदाहरण स्वरूप हम बादरसाम्पराय जीव को लेते हैं। एक काल में कारणों की अपेक्षा इसके सब परीषह बतला कर भी कार्य की अपेक्षा कम से कम एक और अधिक से अधिक १९ परीषह बतलाये हैं। स्पष्ट है कि 'एकादश जिने' इस सूत्र में जिन के जो ग्यारह परीषह बतलाये हैं वे तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में असाता वेदनीयके पाये जानेवाले उदय को देख कर ही बतलाया गया है। वहाँ क्षुधादि ११ परीषह होते है यह उक्त कथन का तात्पर्य नहीं है। 'एकादश जिने' यह कारण की अपेक्षा परीषहों का निर्देश करनेवाला सूत्र है, कार्य की अपेक्षा परीषहों का निर्देश करनेवाला सूत्र नहीं।

इस अध्याय में प्रसंग से संयतों के भेदोंका निर्देश करते हुए बतलाया है कि ये पुलाकादि नैगमादि नयों की अपेक्षा संयत कहे गये हैं। इसका आशय यह है कि पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच भेदोंमें से निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों भाव निर्ग्रन्थ होने से एकमात्र एवं भूतनय की अपेक्षा से ही निर्ग्रन्थ हैं। शेष तीन निर्ग्रन्थ काल भेदसे नैगमादि अनेक नयसाध्य हैं। नैर्ग्रन्थ सामान्य की अपेक्षा विवक्षा भेदसे पाँचों ही निर्ग्रन्थ हैं यह इस कथन का अभिप्राय है।

एक बात यहाँ निर्जरा के विषय में भी स्पष्ट करनी है। उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा के इन दस स्थानों में से श्रावक और विरत के प्रकृत में पूर्व की अपेक्षा जिस असंख्यात गुणी द्रव्य कर्म निर्जरा का निर्देश किया गया है वह इन दोनों के विशुद्धि की अपेक्षा एकान्तानुवृद्धि के काल की जाननी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए क्योंकि इसके सिवाय अन्य काल में संक्लेश और विशुद्धि के अनुसार उक्त निर्जरा में तारतम्य देखा जाता है। विशुद्धि के काल में विशुद्धि के तारतम्य के अनुसार कभी असंख्यात गुणी, कभी संख्यात गुणी, कभी असंख्यातवा भाग अधिक और कभी संख्यातवा भाग अधिक निर्जरा होती है यहाँ पूर्व समय की अपेक्षा अगले समय में कितनी निर्जरा होती है इस दृष्टि से निर्जरा का यत्क्रम बतलाया गया है।

इस अध्याय में ध्यान का विस्तार से विचार करते हुए ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यान का फल और ध्यान के काल इन पाँचों विषयों पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। ध्यान के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। यहा अप्रशस्त ध्यान का विचार न कर प्रशस्त ध्यान का विचार करना है। प्रशस्त ध्यान के भी दो भेद हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। श्रेणि आरोहण के पूर्व जो ध्यान होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं श्रेणि और आरोहण के बाद जो ध्यान होता है उसको शुक्लध्यान संज्ञा है। इसका यह तात्पर्य है कि धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर सातवे गुणस्थान तक होता है। साधारणतः तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के आलम्बन के प्रकार चार बतलाये हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इन सभी पर दृष्टिपात कर सामान्य रूप से यदि आलम्बन को विभक्त किया जाय तो वह दो भागों में विभाजित हो जाता है—एक स्वात्मा और दूसरे स्वात्मा से भिन्न अन्य पदार्थ। ध्यान का लक्षण करते हुए यह तो बतलाया ही गया है कि अन्य ध्यान में अशेष विषयों से चित्तको परावृत्त कर किसी एक विषय पर चित्त अर्थात् उपयोग को स्थिर किया जाता है। अतः आत्म ज्ञानस्वरूप है, इसलिये यदि उपयोग को आत्मस्वरूप में युक्त किया जाता है तो उपयोग स्वरूप का वेदन करनेवाला होने से निश्चय ध्यान कहलाता है और यदि उपयोग को विकल्पदशा पर पदार्थ में युक्त किया जाता है तो वह स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थरूप विशेषणसहित होने के कारण व्यवहार ध्यान कहलता है। इसमें से निश्चय ध्यान कर्म निर्जरा स्वरूप है, अतः कर्म निर्जरा का हेतु भी है और व्यवहार ध्यान इससे विपरीत स्वभाववाला होने से न तो स्वयं निर्जरा स्वरूप है और न साक्षात् कर्म निर्जरा का हेतु ही है। अन्यत्र धर्म ध्यान के जो सविकल्प और निर्विकल्प ये दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अभिप्राय से किये गये जानने चाहिये।

सामान्य नियम यह है कि जब आत्मा मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है तब उसके अपने उपयोग में मुख्य रूप से एकमात्र आत्मा का ही अवलम्बन रहता है, अन्य अशेष अवलम्बन गौण होते जाते हैं, क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही आत्मा का अकेला होता है, अतः मोक्षमार्ग वह कहलाया जिस मार्ग से आत्मा अकेला बनता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति या व्रतादिरूप परिणाम को आगम में व्यवहार धर्मरूप से इसीलिए स्वीकार किया गया है कि वह जीव का परलक्षी संयोगी परिणाम है, स्वरूपानुभूतिरूप आत्माश्रयी अकेला परिणाम नहीं।

**शंका**—स्व-पर का प्रकाशन करना यह ज्ञान का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक उपयोग परिणाम में परलक्षीपना बना रहेगा, उसका वारण कैसे किया जा सकता है?

**समाधान**—ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक होने से प्रत्येक उपयोग परलक्षी या पराश्रित ही होता है ऐसी बात नहीं है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्वपन से या इष्टानिष्टपन से बुद्धिपूर्वक परलक्षी या पराश्रित ज्ञान परिणाम है और स्वरूप क. वेदन काल में अपने उपयोग परिणामरूप से पर भी जानने में आना ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकपना है।

**शंका**:—ज्ञान के उपयोग परिणाम की ऐसी स्थिति कहाँ बनती है ?

**समाधान**:—केवल ज्ञान में।

**शंका**:—छद्मस्थ के स्वरूप का वेदन करते समय जो उपयोग परिणाम होता है उसमें ऐसी स्थिति बनती है कि नहीं ?

**समाधान**:—छद्मस्थ के स्वसन्मुख होकर स्वरूप का वेदन करते समय प्रमाण ज्ञान की प्रवृत्ति न होकर नयज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इसलिये उस काल में उपयोग में पर गौण होने से लक्षित नहीं होता। पण्डितप्रवर आशाधरजी (अनगारधर्मामृत, अध्याय, श्लोक १०८–१०९ स्वोपस टीका में) लिखते हैं—

तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धनयरूपः शुद्धोपयोगो वर्तते।

अर्थ—तदनन्तर अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदरूप विवक्षित एक देशरूप से शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग प्रवर्तता है।

इसी तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए वे इसी स्थल पर आगे लिखते हैं—

अत्र च शुद्धनये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयत्तिष्ठतीति। शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भाव संवर इत्युच्यते। एष च संसारकारण-भूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न स्यात्, नापि फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवच्छुद्धः स्यात्। किन्तु ताभ्यामशुद्ध-शुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिवारणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

और यहाँ पर शुद्धनय में शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव निज आत्मा ध्येय है इसलिए शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। इसी का नाम भाव-संवर है। यह संसार के कारणभूत मिथ्यात्व और रागादि अशुद्ध पर्यायों के समान अशुद्ध नहीं है और फलभूत केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्याय के समान शुद्ध भी नहीं है। किन्तु उन दोनों अशुद्ध और शुद्ध पर्यायों से विलक्षण शुद्ध आत्मानुभूतिरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षकारण एक देश व्यक्तिरूप और एकदेश निवारण तीसरी अवस्थारूप कहाँ जाता है।

यहाँ अप्रमत्त संयम नामक सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति का ज्ञापन किया गया है और सातवें गुणस्थान में धर्म ध्यान होता है, क्योंकि आरोहण के पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों शुक्लध्यान होता है ऐसा आगमवचन है ? अतः इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्प के भेदों से दो प्रकार का होता है। जहाँ शुद्धात्मा ध्येय, शुद्धात्मा आलम्बन और तत्स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग एकरस होकर प्रवृत्त होते हैं उसे निर्विकल्प ध्यान कहते हैं और जहाँ ध्येय और आलम्बन के आश्रय से विचाररूप उपयोग की प्रवृत्ति होती है उसे सविकल्प ध्यान कहते हैं। स्वानुभूति और निर्विकल्प धर्मध्यान इनमें शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। इतना अवश्य है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है उसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय होनेवाले निर्विकल्प ध्यान को स्वानुभूति कहते है। आगे सातवें आदि गुणस्थानों से उसी का नाम शुद्धोपयोग है। यद्यपि प्रत्येक संसारी जीव के कषाय का सद्भाव दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है, परन्तु निर्विकल्प धर्मध्यान और पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान में उसे अबुद्धिपूर्वक स्वीकार किया गया है।

**शंका**—शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद सवीचार है। उस में अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति नियम से होती है। ऐसी अवस्था में उक्त शुक्लध्यान में तथा उससे पूर्ववर्ती निर्विकल्प धर्म ध्यान में शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन कैसे बन सकता है और वह न बनने से निरन्तर शुद्धनय की प्रवृत्ति कैसे बन सकती है?

**समाधान**—यद्यपि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद में अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति होती है, परन्तु निरन्तर स्वभाव सन्मुख रहने के कारण अन्य ज्ञेय पदार्थ से इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसके इस अपेक्षा से शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद में भी शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन बनकर शुद्धात्मा के साधक शुद्धात्मानुभव स्वरूप शुद्धनय की प्रवृत्ति बन जाती है।

श्री समयसार आस्रव अधिकार में छद्मस्थ ज्ञानीके जघन्य ज्ञान होने से उसका पुनः पुनः परिणाम होता है और इसलिये उसे जहाँ ज्ञानावरणादि रूप कर्मबन्ध का भी हेतु कहा गया है, वहाँ इस के मुख्य कारण का निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र देवने बतलाया है कि जो ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष मोहरूप आस्रव भाव का अभाव होने से निरास्रव ही है। किन्तु वह भी जबतक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट रूप से देखने जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्यरूप से ही ज्ञानको देखता जानता और आचरण करता है तब तक उसके भी, जघन्य भाव की अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अन्यभावोत्पत्ति के द्वारा अनुमीयमान, अबुद्धि पूर्वक कलङ्कविपाकका सद्भाव होने से पुद्गल कर्मबन्ध होता है। (समयसार गाथा १७२ आत्मख्याति टीका)

यह तो स्पष्ट है कि ज्ञानी सदाकाल आस्रव भाव की भावना के अभिप्राय से रहित होता है, इस लिये उसके सविकल्प अवस्था में भी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार की गई है, निर्विकल्प अवस्था में तो वह अबुद्धिपूर्वक होती ही है। फिर भी रागभाव चाहे बुद्धिपूर्वक हो और चाहे अबुद्धिपूर्वक, उसके सद्भाव में बन्ध होता ही है। इसका यहाँ विशेष विचार नहीं करना है। यहाँ तो केवल इतना ही निर्देश करना है कि ज्ञानी के ज्ञेय में अभिप्रायपूर्वक कभी भी इष्टानिष्टबुद्धि न होने से वह ध्यान काल में निर्विकल्प स्वानुभूति से च्युत नहीं होता। इसलिए उस के शुद्धनयस्वरूप शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति बनी रहती है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसवें अध्याय में मोक्षतत्त्व के निरूपण के प्रसंग से प्रथम सूत्र में केवल ज्ञान की उत्पति का निरूपण कर दूसरे सूत्र द्वारा सकारण मोक्ष तत्त्व का निरूपण किया गया है। यहां प्रथम सूत्र में घातिकर्मों के नाशके क्रम को भी ध्यान में रखा गया है और दूसरे सूत्र में संवर और निर्जरा-द्वारा समस्त कर्मोंका वियुक्त होना मोक्ष है ऐसा न कहकर संवर के स्थान में जो 'बन्धहेत्वभाव' पद का प्रयोग किया है सो उस द्वारा आचार्य गृद्धपिच्छ ने यह तथ्य उद्घाटित किया है कि 'संवर' को ही यहाँ पर व्यतिरेक मुख से 'बन्धहेत्वभाव' कहा गया है, क्योंकि जितने अंश में बन्ध के हेतुओंका अभाव होता है उतने ही अंश में संवर की प्राप्ति होती है। उसे ही दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि जितने अंश में संवर अर्थात् स्वरूपस्थिति होती है उतने ही अंश में बन्ध के हेतुओं का अभाव होता है।

पहले दूसरे अध्याय में जीव के पाँच भावोंका निर्देश कर आये हैं। क्या वे पाँचों प्रकार के भाव मुक्त जीवों के भी पाये जाते हैं या उनमें कुछ विशेषता है ऐसी आशंका को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने उसका निरसन करने के अभिप्राय से ३ रे और ४ थे सूत्रों की रचना की है। तीसरे सूत्र में तो यह बतलाया गया है कि मुक्त जीवों के कर्मों के उपशम, क्षयोपशम और उदय के निमित्त से जितने भाव होते हैं उनका अभाव तो होही जाता है। साथ ही भव्यत्व भावका भी अभाव हो जाता है। जैसे किसी उडद में कारण-रूपसे पाकशक्ति होती है और किसी विशेष उडद में ऐसी पाक शक्ति नहीं होती उसी प्रकार अधिकतर जीवों में रत्नत्रय को प्रकट करने की सहज योग्यता होती है और कुछ जीवों में ऐसी योग्यता नहीं होती। जिन में रत्नत्रय को प्रकट करने की सहज कारण योग्यता होती है उन्हें भव्य कहते हैं और जिन में ऐसी कारण योग्यता नहीं होती उन्हें अभव्य कहते हैं। स्पष्ट है कि जिन जीवों ने मुक्ति लाभ कर लिया है उनके रत्नत्रयरूप कार्य परिणाम के प्रकट हो जाने से भव्यत्व भावरूप सहज कारण योग्यता के कार्यरूप परिणाम जानेसे वहाँ इसका अभाव स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ जो मिट्टी घट परिणामका कारण है उसका घट परिणामरूप कार्य हो जाने पर उसमें जैसे वर्तमान में वह कारणता नहीं रहती उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये।

चौथे सूत्र में मुक्त जीव के जो भाव शेष रहते हैं उन्हें स्वीकार किया है यद्यपि उक्त सूत्र में ऐसे कुछ ही भावों का नामनिर्देश किया गया है जो मुक्त जीवों में पाये जाते हैं। पर वहाँ उनका उपलक्षण रूपसे ही नामनिर्देश किया गया जानना चाहिए। अतः इससे उन भावों का भी ग्रहण हो जाता है जिनका उल्लेख उक्त सूत्र में नहीं किया गया है, पर मुक्त जीवों में पाये अवश्य जाते हैं। यहाँ यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि ये भाव कर्मक्षय को निमित्तकर होते हैं, इसलिए इन्हें क्षायिक भाव भी कहते हैं। परन्तु सूत्र में इनका क्षायिक भावरूप से उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि ये सब भावस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए इस अपेक्षा से ये वास्तव में स्वभाव भाव ही हैं। उन्हें क्षायिक भाव कहना यह उपचार है। सूत्रकारने अपने इस निर्देश द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि मुमुक्षु जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिये बाह्य सामग्री का विकल्प छोडकर अपने उपयोगद्वारा स्वभावसन्मुख होना ही कार्यकारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तिलाभ होनेपर यह जीव क्षेत्र में मुक्तिलाभ करता है वहीं अवस्थित रहता है या क्षेत्रान्तर में गमन कर जाता है ? यदि क्षेत्रान्तर में गमन करके जाता है तो वह क्षेत्र कौनसा है जहाँ जाकर यह अवस्थित रहता है ? साथ ही वहीं इसका गमन क्यों होता है ? मुक्त होने के बाद भी यदि गमन होता है तो नियत क्षेत्र तक ही गमन होने का कारण क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जिनका समाधान ५ से लेकर ८ वें तक के सूत्रों में किया गया है।

प्रयोजनीय बात यहाँ यह कहनी है कि सातवें सूत्र में 'तथागतिपरिणामात्' पद द्वारा तो मुक्त जीव की स्वभाव ऊर्ध्व गति का निर्देश किया गया है और ८ वें सूत्र द्वारा उसके बाह्य साधन का उल्लेख किया गया है।

यहाँ पर कुछ विद्वान् यह शंका किया करते हैं कि मुक्त जीव का उपादान तो लोकान्तर के ऊपर जाने का भी है, पर आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकान्त से उपर उसका गमन नहीं होता। किन्तु उनका इस विषय में यह वक्तव्य तथ्य की अनभिज्ञता को ही सूचित करता है। उक्त शंका का समाधान यह है—

( १ ) बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में कार्य होता है यह नियम है। इसके अनुसार जिस समय जो कार्य होता है उसके अनुरूप ही पर्याय योग्यता-उपादन कारणता होती है। न न्यून और न अधिक। तथा बाह्य निमित्त भी उसके अनुकूल ही होते हैं। उनका उस समय होना अवश्यंभावी है। वह न हो तो उपादान के रहते हुए भी कार्य नहीं होता ऐसा नहीं है, क्यों कि जिस प्रकार विवक्षित कार्य की अपने उपादान के साथ उस समय आभ्यन्तर व्याप्ति नियम से होती है उसी प्रकार उस समय उसकी बाह्य साधनों के साथ बाह्य व्याप्ति का होना भी अवश्यंभावी है। तभी इनकी विवक्षित कार्य के साथ काल प्रत्यासत्ति बन सकती है। इससे सिद्ध है कि मुक्त जीव का लोकान्त के ऊपर गमनाभाव वास्तव में तो वैसा उपादान न होने से नहीं होता। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से नहीं होता यह मात्र व्यवहार वचन है जो मुक्त जीव अपने उपादान के अनुसार कहाँ तक जाता है इस तथ्य को सूचित करता है। सर्वत्र व्यवहार और निश्चय का ऐसा ही योग होता है।

( २ ) मुक्त जीव उर्ध्वगति स्वभाव है इस कथन का यह आशय नहीं कि वह निरन्तर ऊपर ही ऊपर गमन करता रहे। किन्तु इस कथन का यह आशय है कि वह तिर्यक् रूप से अन्य दिशाओं की ओर गमन न कर लोकान्त तक ऊर्ध्व ही गमन करता है। तत्त्वार्थवार्तिक में 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस सूत्र की उत्थानिका में बतलाया है कि—'मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावः नोर्ध्वगमनमेवेति'। 'मुक्त जीव का ऊपर की ओर ही गमन होता है, अन्य दिशाओं को लक्ष्य कर गमन नहीं होता यह स्वभाव है, उत्तरोत्तर ऊपर–ऊपर गमन होता रहे यह स्वभाव नहीं है'। सो इस वचन से भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है।

( ३ ) मुक्त जीव की एक ऊर्ध्वगति होती है जो स्वाभाविकी होने से स्वप्रत्यय होती है। साथ ही लोकान्त में उसकी अवस्थिति भी स्वाभाविकी होने से स्वप्रत्यय होती है इसलिए उसपर यह व्यवहार कथमपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लागू नहीं पडता कि लोकान्त से और आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होनेसे उसे वहां बलात् रुकना पडता है। किन्तु अपने उपादान के अनुसार मुक्तजीव लोकान्त तक ऊपर की ओर ऋजुगति से स्वयं गमन करता है और लोकान्त में स्वयं अवस्थित हो जाता है। व्यवहारनय से लोकालोक के विभाग का कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को बतलाया गया है उसीको ध्यान में रखकर सूत्रकार ने यह वचन कहा है कि आगे धर्मास्तिकाय न होने से मुक्तजीव लोकान्त से और उपर नहीं जाता। परमार्थ से देखा जाय तो षट् द्रव्यमयी यह लोक स्वभाव से रचित है, अतएव अनादि-निधन है, इसलिए जिस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत के परभाग में मनुष्य का स्वभाव से गमन नहीं होता उसी प्रकार एक मुक्त जीव ही क्या किसी भी द्रव्य का लोक की मर्यादा के बाहर स्वभाव से गमन नहीं होता।

( ४ ) जैसे कोई परमाणु एक प्रदेशतक गमन कर स्वयं रुक जाता है। कोई परमाणु दो या दो से अधिक प्रदेशों तक गमन कर स्वयं रुक जाता है। आगे धर्मास्तिकाय होने पर भी एक या एक से अधिक प्रदेशोंतक गमन करनेवाले परमाणु को वह बलात् गमन नहीं कराता। वैसे ही मुक्त जीव अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव का उत्कृष्ट विपाक लोकान्त तक जाने का होने के कारण वहाँ तक जाकर वह स्वयं रुक जाता है ऐसा यहाँ परमार्थ से समझना चाहिए। 'धर्मास्तिकायाभावात्' यह व्यवहार वचन है जो इस तथ्य को सूचित करता है कि इससे और ऊपर गमन करने की जीव में उपादान शक्ति ही नहीं है।

यहां सूत्रकार ने ७ वें और ८ वें सूत्र में जितने हेतु और उदाहरण दिए हैं उन द्वारा मुक्त जीव का एकमात्र ऊर्ध्वगति स्वभाव ही सिद्ध किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। ९ वें सूत्र में ऐसे १२ अनुयोगों का निर्देश किया गया है जिनके माध्यम से मुक्त होनेवाले जीवों के विषय में अनेक उपयोगी सूचनाओं का परिज्ञान हो जाता है। उनमें एक चारित्र विषयक अनुयोग है। प्रश्न है कि किस चारित्र से सिद्धि होती है? उसका समाधान करते हुए एक उत्तर यह दिया गया है कि नाम रहित चारित्र से सिद्धि होती है। इस पर कितने ही मनीषी ऐसा विचार रखते हैं कि सिद्धों में कोई चारित्र नहीं होता। किन्तु इसी तत्त्वार्थसूत्र में जीव के जो नौ क्षायिक भाव परिगणित किए गये हैं उनमें एक क्षायिक चारित्र भी है। और ऐसा नियम है कि जितने भी क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे सब परनिरपेक्ष भाव होने से प्रतिपक्षी द्रव्यभाव कर्मों का क्षय होने पर एकमात्र स्वभाव के आलम्बन से ही उत्पन्न होते हैं, अतः वे सिद्ध पर्याय के समान अविनाशी होते हैं। अतः सिद्धों में केवल ज्ञान आदि के समान स्वरूप स्थिति अर्थात् स्वसमय प्रवृत्तिरूप अनिधन सहज चारित्र जानना चाहिए। उसकी कोई संज्ञा नहीं है, इसलिए उनमें उसका अभाव स्थापित करना उचित नहीं है। लोक में एक यह बात भी प्रचारित की जाती है कि इस काल में इस क्षेत्र से कोई मुक्त नहीं होता सो यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति प्राप्ति के लिए न तो कोई काल ही बाधक है और न मनुष्य लोक सम्बन्धी कोई क्षेत्र ही बाधक है। इतना अवश्य है कि चौथे काल और उत्सर्पिणी के तीसरे काल सम्बन्धी इस भरत क्षेत्र में ऐसे मनुष्य भी जन्म लेते हैं जो चरम शरीरी होते हैं यह सहज नियम है। इस क्षेत्र सम्बन्धी प्रायः अपसर्पिणी के चौथे काल में और उत्सार्पिणी के तीसरे काल में ही ऐसे मनुष्य जन्म लेते हैं जो चरम शरीरी होते हैं यह प्राकृतिक नियम है। अतः इस क्षेत्र और इस काल को दोषी बतलाकर मोक्षमार्ग के अनुरूप उद्यम न करना योग्य नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में किन विषयों का निर्देश किया गया है इसका संक्षेप में विचार किया।

## वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ

### १. सर्वार्थसिद्धि

दिगम्बर परम्परा में सूत्र शैली में लिपिबद्ध हुई तत्त्वार्थसूत्र और परीक्षामुख ये दो ऐसी मौलिक रचनाएं हैं जिनपर अनेक वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं। वर्तमान काल में उपलब्ध 'सर्वार्थसिद्धि' यह तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा गया सबसे पहला वृत्ति ग्रन्थ है। यह स्वनामधन्य आचार्य पूज्यपाद की अमर कृति है। यह पाणिनि व्याकरण पर लिखे गये पातञ्जल भाष्य की शैली में लिखा गया है। यदि किसी को शान्त रस गर्भित साहित्य के पढने का आनंद लेना हो तो उसे इस ग्रन्थ का अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के सामने इस वृत्ति ग्रन्थ की रचना करते समय षट्खण्डागम प्रभृति बहुविध प्राचीन साहित्य उपस्थित था। उन्होंने इस समग्र साहित्य का यथास्थान बहुविध उपयोग किया है[1]। साथ ही उनके इस वृत्ति ग्रन्थ के अवलोकन से यह भी मालूम पडता है कि इसकी रचना के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर (टीकाटीप्पणीरूप) और भी अनेक रचनाएं लिपिबद्ध हो चुकीं थीं[2]। वैसे वर्तमान में उपलब्ध यह सर्वप्रथम रचना है। श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमभाष्य इसके बाद की रचना है। सर्वार्थसिद्धि के अवलोकन से इस बात का तो पता लगता है कि इसके पूर्व श्वेताम्बर आगम साहित्य रचा जा चुका था[3], परन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखा जा चुका था इसका यत्किंचित् भी पता नहीं लगता। इतना अवश्य है कि भट्टाकलंकदेव के तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसे उल्लेख अवश्य ही उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके पूर्व की रचना है। इस लिए सुनिश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इन दोनों आचार्यों के मध्य काल में किसी समय लिपिबद्ध हुआ है।[4]

सर्वार्थसिद्धि वृत्ति की यह विशेषता है कि उसमें प्रत्येक सूत्र के सब पदों की व्याख्या नपे-तुले शब्दों में सांगोपांग की गई है। यदि किसी सूत्र के विविध पदों में लिंगभेद और वचनभेद है तो उसका भी स्पष्टीकरण किया गया है[5]। यदि किसी सूत्र में आगमका वैमत्य होने का सन्देह प्रतीत हुआ तो उसकी सन्धि बिठलाई गई है[6] और यदि किसी सूत्र में एकसे अधिकवार 'च' शब्दकी[7] तथा कहीं 'तु' आदि शब्दका[8] प्रयोग किया गया है तो उनकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह है कि यह रचना इतनी सुन्दर और सर्वांगपूर्ण बन पडी है कि समग्र जैन वाङ्मय में उस शैलीमें लिखे गये दूसरे वृत्ति, भाष्य या टीका ग्रन्थका उपलब्ध होना दुर्लभ है। यह वि. सं. की पाँचवी शताब्दि के उत्तरार्ध से लेकर छठी

---

१. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ४६ आदि।
२. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ४२।
३. देखो, अ. ७ सु. १३।
४. देखो तत्त्वार्थ भाष्य अ. ३ सू. १ आदि।
५. अ. देखो, १, सू. १ आदि।
६. देखो, अ. ४, सू. २२।
७. अ. २, सू. १।
८. देखो, अ. ४, सू. ३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शताब्दि के पूर्वार्ध में इस बीच किसी समय लिपिबद्ध हुई है। अनेक निर्विवाद प्रमाणों से आचार्य पूज्यपाद का यही वास्तव्यकाल सुनिश्चित होता है। इतना अवश्य है यह उनके द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण के बाद की रचना होनी चाहिए[1]।

## २. तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थसूत्र के विस्तृत विवेचन के रूप में लिखा गया तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य यह दूसरी अमर कृति है। सर्वार्थसिद्धि के प्रायः सभी मौलिक वचनों को भाष्यरूप में स्वीकार कर इसकी रचना की गई है। इस आधार से इसे तत्त्वार्थसूत्र के साथ सर्वार्थसिद्धि का भी विस्तृत विवेचन स्वीकार करने में अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती। समग्र जैन परम्परा में भट्ट अकलंक देव की जैसी ख्याति है उसी के अनुरूप इसका निर्माण हुआ है इसमें सन्देह नहीं। इसमें कई ऐसे नवीन विषयोंपर प्रकाश डाला गया है जिनका विशेष विवेचन सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण स्वरूप प्रथम अध्याय के ८ वें सूत्र को लीजिए। इसमें अनेकान्त विषय को जिस सुन्दर अर्थगर्भ और सरल शैली में स्पष्ट किया गया है वह अनुपम है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में ५ भावों के प्रसंग से सान्निपातिक भावों का विवेचन तथा चौथे अध्याय के अन्त में पुनः अनेकान्त का गम्भीर इस रचना की अपनी विशेषता है। अनेक प्रमाणों से भट्ट अकलंक देव का वास्तव्य काल वि. सं. ८ वीं शताब्दि का पूर्वार्ध स्वीकार किया गया है, इसलिये यह रचना उसी समय की माननी चाहिए।

## ३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थ–श्लोकवार्तिकभाष्य यह तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत व्याख्या के रूप में लिखी गई तीसरी अमर कृति है। इसके रचियता आचार्य विद्यानन्द है। इनकी अपनी एक शैली है जो उन्हें आचार्य समन्तभद्र और भट्ट अकलंक देव की विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। यही कारण है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य की समग्र रचना दार्शनिक शैली में हुई है। इस रचना का आधे से अधिक भाग प्रथम अध्याय को दिया गया है और शेष भाग में नौ अध्याय समाप्त किये गये हैं। उसमें भी प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की रचना की अपनी खास विशेषता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है यह सामान्य वचन है। इसके विस्तृत और यथावत् स्वरूप का परिज्ञान इसमें बहुतही विशद रूपसे कराया गया है। वर्तमान समय में निश्चय–व्यवहार की यथावत मर्यादा के विषय में बडी खींचातानी होती रहती है। उसे दूर करने के लिए इससे बडी सहायता मिलती है। विवक्षित कार्य के प्रति अन्य को निमित्त किस रूपमें स्वीकार करना चाहिए इसका स्पष्ट खुलासा करने में भी यह रचना बेजोड है। ऐसे अनेक सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रश्न हैं जिनका सम्यक् समाधान भी इससे किया जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधारपर आचार्य विद्यानन्द का वास्तव्य काल वि. सं ८ वीं शताब्दि का उत्तरार्ध और ९ वीं शताब्दि का पूर्वार्ध निश्चित होने से यह रचना उसी समय की समझनी चाहिए।

---

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना, पृ. ८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ४. अन्य टीकासाहित्य

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का विस्तृत और सांगोपांग विवेचन करनेवाली ये तीन रचनाएं मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तत्त्वार्थवृत्ति आदि और भी अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाएं हैं। हिन्दी, मराठी और गुजराती आदि अन्य अनेक भाषाओं में भी तत्त्वार्थसूत्र पर छोटेबडे अनेक विवेचन लिखे जा चुके हैं। यदि तत्त्वार्थसूत्र पर विविध भाषाओं में लिखे गये सब विवेचनों की सूची तैयार की जाय तो उसकी संख्या सौ से अधिक हो जायगी। इसलिए उन सब पर यहाँ न तो पृथक रूप से प्रकाश ही डाला गया है और न वैसी सूची ही दी गई है।

## श्वेताम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का क्या स्थान है यहाँ तक इसका विचार किया। आगे संक्षेप में श्वेताम्बर परम्परा ने तत्त्वार्थसूत्र को किस रूप में स्वीकार किया है इसका उहापोह कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टधर शिष्य थे। उन्होंने किसी भव्य जीव के अनुरोध पर तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। वर्तमान में उपलब्ध सर्वार्थसिद्धि यह उसकी प्रथम वृत्ति है। सर्वार्थसिद्धि के रचियता आचार्य पूज्यपाद का लगभग वही समय है जब श्वेताम्बर परम्परा में देवार्धिगणि की अध्यक्षता में श्वेताम्बर आगमों का संकलन हुआ था। किन्तु उससे साहित्यिक क्षुधा की निवृत्ति होती हुई न देखकर श्वेताम्बर परम्परा का ध्यान दिगम्बर परम्परा के साहित्य की ओर गया। उसी के फल स्वरूप ७ वीं ८ वीं शताब्दि के मध्य किसी समय उमास्वाति वाचक ने तत्त्वार्थसूत्र में परिवर्तन कर भाष्यसहित तत्त्वार्थाधिगम की रचना की। उनका यह संग्रह ग्रन्थ है इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं स्वरचित एक कारिका में किया है। वे लिखते हैं—

**तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।**
**वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥**

इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वाति की यह स्वतन्त्र रचना नहीं है। किन्तु अन्य द्वारा रचित रचनाओं के आधार से इसका संकलन किया गया है। इनके स्वनिर्मित भाष्य में कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं जिनसे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगम और उसके भाष्य को लिपिबद्ध करते समय इनके सामने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति उनके सामने रही है।[1] उत्तर कालीन स्तुति-स्तोत्रों में स्तुतिकारों द्वारा गुणानुवाद आदि में अपनी असमर्थता व्यक्त करने के लिये जैसी कविता लिपिबद्ध की गई उसका पदानुसरण इन्होंने स्वरचित कारिकाओं में बहुलता से किया है। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी यह रचना ७ वीं ८ वीं शताब्दि से बहुत पहले की नहीं होनी चाहिए। उदाहरण देखिए।

---

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना ४४-४५ आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयेत् ।**
**गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥**

इन्होंने अपनी रचना में यह भी बतलाया है कि जिस जिनवचन महोदधि पर अनेक भाष्य लिखे गये उसको पार करने में कौन समर्थ है। यह तो सुनिश्चित है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य पर जो भाष्य लिखे गये वे सब सातवीं शताब्दि के पूर्व के नहीं है। अतः यह स्वयं उन्हींके शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थाधिगम मान्य सूत्रपाठ और भाष्य ये दोनों श्वेताम्बर आगमों पर लिखे गये भाष्योंके पूर्व की रचनाएं नहीं है।

यह श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यकी स्थिति है। इनके ऊपर हरिभद्र और सिद्धसेनगणि की विस्तृत टीकाएं उपलब्ध होती हैं। ये दोनों टीकाकार भट्ट अकलंक देवके कुछ काल बाद हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी टीकाओं में ऐसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं जो तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य के आभारी हैं। इनके बाद ऐसी छोटी बडी और भी अनेक टीकाएं समय समय पर लिखी गई हैं जिन पर विशेष ऊहापोह प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी ने तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन में किया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का संक्षेप में यह सर्वांगीण आलोडन है।

---

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org